जनसत्ता

सरोकार का सवाल

उत्तर भारत के बड़े हिस्से, खासतौर से दिल्ली व इसके आसपास के इलाकों में वायु प्रदूषण से बिगड़ते हालात पर संसद में मंगलवार को चर्चा के दौरान जिस तरह से बड़ी संख्या में सांसद नदारद रहे, वह वायु प्रदूषण से कहीं ज्यादा गंभीर चिंता का विषय है। इससे यह पता चलता है कि गंभीर मुद्दों के प्रति हमारे माननीय जनप्रतिनिधि कितने सजग हैं और आमजन से जुड़े अहम मुद्दों के प्रति उनका कितना सरोकार है! मामला सिर्फ सांसदों तक ही सीमित नहीं है, ऐसे गंभीर मुद्दे पर चर्चा के दौरान मंगलवार को लोकसभा के अधिकारी और संबंधित स्टाफ भी सदन में नहीं पहुंचे। लेकिन जिनको चर्चा करनी है अगर वे ही सदन में न हों तो अधिकारी पहुंच कर क्या करते! इससे लोकसभाध्यक्ष का नाराज होना स्वाभाविक ही है। पिछले एक महीने से जहरीली होती हवा से दिल्ली जिस तरह हांफ रही है और इस गंभीर समस्या पर देश की सर्वोच्च अदालत तक सक्रिय है, ऐसे में इस मुद्दे पर चर्चा के दौरान बयासी फीसद सांसदों की गैरमौजूदगी यह बताने के लिए पर्याप्त है कि प्रदूषण उनके लिए कोई बड़ा मुद्दा नहीं है। इससे पहले शुक्रवार को शहरी विकास मंत्रालय से जुड़ी संसद की स्थायी समिति ने दिल्ली-एनसीआर में प्रदूषण के मुद्दे पर बुलाई बैठक में उनतीस में पच्चीस सांसद बैठक से नहीं पहुंचे थे।

सदन की बैठकों से जनप्रतिनिधियों का गैरहाजिर रहना कोई नई बात नहीं है। अक्सर देखा गया है कि महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा के दौरान सांसद सदन में नहीं होते हैं। इन दिनों वायु प्रदूषण का मुद्दा सबसे गंभीर इसलिए भी है कि इससे न सिर्फ दिल्ली, बल्कि देश के कई शहर त्रस्त हैं। दुनिया के सबसे ज्यादा वायु प्रदूषण वाले शहर भारत में ही हैं और इनमें भी पहले दस शहर उत्तर भारत के हैं। ऐसे में अगर इस समस्या पर चर्चा से बचा जाएगा तो समाधान के रास्ते कैसे निकलेंगे, यह सोचने की बात है। हालांकि जितने सदस्यों ने भी वायु प्रदूषण पर चर्चा के दौरान अपने विचार रखे, वे सब इस बात पर एकमत दिखे कि इस समस्या से निपटने के लिए संसद को साझा जिम्मेदारी लेनी होगी। पर यह हो कैसे, इसका व्यावहारिक उपाय कोई नहीं सुझा रहा। वायु प्रदूषण के मुद्दे पर चर्चा एक दूसरे पर ठीकरा फोड़ने और दोषारोपण करने पर ही केंद्रित रही। कोई दल मानने को तैयार नहीं है कि पराली जलाने से वायु प्रदूषण खतरनाक रूप लेता जा रहा है। प्रदूषण किन कारणों से बढ़ रहा है, यह तो विवाद का विषय होना ही नहीं चाहिए। अगर पराली जलाने से प्रदूषण नहीं हो रहा है, या यह प्रदूषण का बड़ा कारण नहीं है तो क्यों सुप्रीम कोर्ट को इतने सख्त कदम उठाने पड़ रहे हैं?

हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश में किसान अभी भी पराली जला रहे हैं। इसके पीछे वजह यही है कि प्रशासन एक सीमा के बाद हाथ खड़े कर दे रहा है। पराली जलाना किसानों की मजबूरी है, वरना खेती कैसे होगी। जनप्रतिनिधि चाहें तो किसानों से संवाद करके इस समस्या का समाधान निकालने में बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। संसद में बहस के दौरान ऐसा कुछ नया नहीं कहा जा रहा जो कोई उपाय सुझाता हो। एक दूसरे को जिम्मेदार ठहराने के बजाय बेहतर हो सांसद अपने-अपने क्षेत्रों में जाएं और किसानों से संवाद करें, प्रशासन उनकी मदद क्यों नहीं कर पा रहा, पता लगाएं। प्रदूषण फैलने के दूसरे कारणों और उनके समाधान के लिए धरातल पर काम करें। सांसदों के अधिकार और विकास के लिए मिलने वाला पैसा कम नहीं होता। बस पहल करने की जरूरत है।

भाषा की सीमा

इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है कि विशेष योग्यता रखने वाले किसी व्यक्ति का विरोध सिर्फ इसलिए किया जाए कि उसकी धार्मिक पहचान अलग है। वाराणसी में काशी हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू) में एक ऐसा मामला सामने आया है, जो किसी भी संवेदनशील और प्रगतिशील सोच वाले व्यक्ति को असहज करने के लिए काफी है। गौरतलब है कि बीएचयू में एक पूरी और लंबी प्रक्रिया को पूरा करने के बाद सहायक प्रोफेसर के पद पर फिरोज खान की नियुक्ति हुई। इस पद पर बहाली के लिए उन्हें कई अन्य उम्मीदवारों के मुकाबले सबसे ज्यादा योग्य पाया गया था। कई बार किसी भाषा को जिस तरह एक सामुदायिक पहचान के साथ नत्थी करके देखा जाता है, उसमें फिरोज खान के रूप में संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान विभाग में एक सक्षम अध्यापक की नियुक्ति विश्वविद्यालय के लिए एक विशेष उपलब्धि थी। लेकिन बेहद अफसोसनाक है कि सांस्कृतिक रूप से यह बेहतरीन तस्वीर कुछ लोगों को रास नहीं आई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद से जुड़े रहे कुछ छात्रों ने सिर्फ इस तर्क पर फिरोज खान की नियुक्ति के खिलाफ अभियान छेड़ दिया कि कोई मुसलिम व्यक्ति संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान की पढ़ाई कैसे करा सकता है!

यह प्रथम दृष्टया ही एक दुर्भावना और दुराग्रह से भरा रवैया है कि किसी भाषा को एक खास धर्म के दायरे में कैद करके देखा जाए। सहायक प्रोफेसर के रूप में फिरोज खान को अन्य सभी अभ्यर्थियों के बीच सबसे योग्य पाया गया और इसी वजह से उनकी बहाली हुई। इस तरह न सिर्फ संस्कृत भाषा के विद्वान होने के नाते, बल्कि संवैधानिक और नागरिक अधिकारों के नाते भी अपनी नियुक्ति वाले पद पर सेवा देना उनका अधिकार है। बाकी ऐसे सवाल सामाजिक विमर्श का विषय हैं कि एक मुसलिम व्यक्ति आखिर संस्कृत में विशेषज्ञता हासिल करने का अधिकार क्यों नहीं रखता! यों फिरोज खान बचपन से ही संस्कृत से अनुराग रखते हैं और उनके घर और आस-पड़ोस तक में संस्कृत को लेकर ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि उन्हें मुसलमान होने के नाते संस्कृत नहीं जानना-पढ़ना है। लेकिन संस्कृत के अध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति को कुछ लोग स्वीकार नहीं कर सके। जबकि भिन्न धार्मिक पहचान के बावजूद फिरोज खान की संस्कृत में विशेष योग्यता को न केवल सहजता से स्वीकार करना चाहिए था, बल्कि पारंपरिक जड़ धारणाओं के मुकाबले इसे भाषा के बढ़ते दायरे के रूप में देखा जाना चाहिए था।

इसी संदर्भ में एक खबर आई कि केरल में एक ब्राह्मण महिला गोपालिका अंतरजन्म ने एक संस्थान में उनतीस साल तक अरबी पढ़ाई और एक मुसलिम संगठन ने 2015 में विश्व अरबी दिवस पर उन्हें इसके लिए सम्मानित भी किया था। इसके अलावा, भारत में प्रेमचंद से लेकर हिंदू पहचान वाले ऐसे कई लेखक रहे हैं, जिन्होंने उर्दू को अपने लेखन का जरिया बनाया था, लेकिन इससे उनकी स्वीकृति में कहीं कमी नहीं आई। यों भी, जिस तरह पिछले कुछ समय से एक भाषा के रूप में संस्कृत का दायरा सिकुड़ने को लेकर जैसी चिंताएं जताई जा रही हैं, उसमें कायदे से होना यह चाहिए था कि एक मुसलिम पहचान वाले व्यक्ति के संस्कृत का अध्यापक बनने को इस भाषा और सद्भाव के प्रसार के तौर पर देखा जाता और खुशी जाहिर की जाती। लेकिन इसके उलट इसे धार्मिक दुराग्रहों का सवाल बना कर संस्कृत को एक खास धार्मिक पहचान में समेटने की अफसोसनाक कोशिश की गई। दुनिया भर में कोई भी भाषा किसी खास धर्म की पहचान में सिमटी नहीं रही है और न होनी चाहिए। लेकिन कोई भाषा किसी भी वजह से एक समुदाय के दायरे में कैद रही, उसके सामने अस्तित्व तक का संकट खड़ा हुआ।

कल्पमेधा

जिस प्रकार सुबह दिन का द्योतक होता है, उसी प्रकार शैशव भी मनुष्य का परिचायक होता है।
– मिल्टन

पराली की तपिश में झुलसता किसान

संजीव पांडेय

पराली प्रबंधन की मशीनों को लेकर भी किसान संगठनों ने सरकार पर घपले के आरोप लगाए हैं। किसान संगठनों का कहना है कि जितनी कीमत पर अनुदान देकर मशीनें किसानों को उपलब्ध करवाई जा रही हैं, उससे सस्ती मशीनें खुले बाजार में उपलब्ध हैं। इस तरह अनुदान की रकम में खेल हो रहा है। मशीन बनाने वाली कंपनियों के साथ मिलकर अधिकारी घालमेल कर रहे हैं।

दिल्ली में प्रदूषण का स्तर इन दिनों घातक स्तर पर है। तमाम दावों के बीच पंजाब और हरियाणा में पराली जलाने की घटनाओं में कमी नहीं आ रही है। पंजाब में अक्तूबर महीने में पराली जलाने के लगभग तीस हजार और हरियाणा में चार हजार से ज्यादा मामले सामने आए। अभी भी यह सिलसिला जारी है। दिल्ली के प्रदूषण में पराली के धुएं से होने वाले प्रदूषण की भागीदारी लगभग चवालीस फीसद है, जबकि छप्पन फीसद दिल्ली का प्रदूषण दिल्ली से के स्थानीय कारणों से है। इसके बावजूद पराली की राजनीति में किसानों को खलनायक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी जा रही। हालांकि किसानों का दर्द कोई समझने को तैयार नहीं है। दिल्ली सहित देश की तमाम शहरी आबादी के लिए अनाज का यही किसान पैदा करते हैं। फसलों का लागत मूल्य बढ़ने और कम कीमत मिलने से किसान परेशान हैं। दूसरी तरफ बढ़ते कर्ज के कारण किसान आत्महत्या कर रहे हैं। बदहाल आर्थिक स्थिति के कारण खेतों में पराली जलाना तो किसानों की मजबूरी है, क्योंकि पराली से निकलने वाला धुएं के प्रदूषण का पहला हमला दिल्ली पर नहीं, बल्कि उस किसान के परिवार पर ही होता है जिसके खेत में पराली जलती है। लेकिन उसकी मजबूरी है कि वह इसे जलाए नहीं तो क्या करे?

खेतों में पराली जलाने के पीछे उसकी मजबूरी को समझने को कोई तैयार नहीं है। एक सच्चाई यह है कि धान की कटाई हाथ से करने लिए अब किसानों को मजदूर नहीं मिलते। हाथ से पराली की कटाई काफी महंगी पड़ती है। पराली में इतना ज्यादा कीटनाशक होता है कि किसान इसे हाथ से कटवाना नहीं चाहते, क्योंकि बाद में इसे चारे के तौर पर जानवरों को खिलाना खतरनाक होगा। इसलिए पंजाब और हरियाणा के किसान सबसे आसान रास्ता इसे जलाने का चुनते हैं। हालांकि एक राय यह भी है कि पंजाब सरकार ने 2009 में जो जल संरक्षण कानून बनाया था, वह भी पराली जलाने की घटनाओं को बढ़ाने के लिए जिम्मेवार है। इस अधिनियम के मुताबिक धान के पौधों को खेतों में दस जून से पहले नहीं लगाया जा सकता। दरअसल इस तरह का कानून बनाना राज्य सरकार की मजबूरी थी। दरअसल पंजाब के किसान मई महीने में ही धान के पौधे खेतों में रोप देते थे। इससे भारी भूजल का दोहन होता था। राज्य में लगभग पंद्रह लाख ट्यूबेल हैं। साल 2009 से पहले मई की भीषण गर्मी में इन टयूबेलों से धान की खेती के लिए भारी भूजल का दोहन होता था। इससे हालात इतने खराब हुए कि आज राज्य के राज्य के एक सौ अड़तीस ब्लाकों में से एक सौ दस ब्लॉक डार्क जोन में चले गए हैं।

पंजाब में अभी भी तिहत्तर फीसद खेती सिंचाई के लिए भूजल पर निर्भर है। इसलिए राज्य सरकार ने धान का पौधा खेतों में लगाए जाने का समय जून महीने में तय किया, क्योंकि जुलाई में मानसून आने की संभावना रहती है। गौरतलब है कि एक किलो चावल पैदावार के लिए लगभग पांच हजार लीटर जल की खपत होती है। राज्य सरकार के जल संरक्षण को लेकर लागू नए नियमों से राज्य में भूजल का बचाव हुआ है, इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन किसानों के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। नवंबर के मध्य तक गेहूं की फसल लगाने के लिए किसानों को खेत तैयार चाहिए होते हैं। ऐसे में सिर्फ पंद्रह से बीस दिनों में गेहूं की फसल के लिए खेत तैयार करने के मकसद से किसान को पराली जलाने का विकल्प ही सबसे उपयुक्त लगा, क्योंकि कम समय में दूसरे तरीकों से पराली प्रबंधन का रास्ता महंगा है। कर्ज के बोझ तले किसान इस खर्च का वहन नहीं कर सकते। दूसरे तरीकों को अपनाने पर प्रति एकड़ लगभग पांच हजार रुपए का खर्च आता है। किसान इतना पैसा खर्च करने की स्थिति में नहीं है।

किसान संगठनों के अनुसार पराली प्रबंधन के दूसरे तरीके किसान अपना सकते हैं, बशर्ते सरकार किसानों को धान पर प्रति क्विंटल दो सौ रुपए का बोनस दे दे। लेकिन लंबे समय से सरकार किसानों की यह मांग नहीं मान रही है। किसान पराली नष्ट करने वाली मशीनों को खरीदने की स्थिति में भी नहीं है। सरकारों को किसानों की बदहाल स्थिति का पता है। राष्ट्रीय हरित प्राधिकरण (एनजीटी) ने अपने आदेश कहा था कि सीमांत किसानों को मुफ्त में पराली प्रबंधन से संबंधित उपकरणों को दिया जाए। पांच एकड़ तक जमीन के मालिकों को सस्ती दर पर मशीनरी उपलब्ध करवाई जाए। सच्चाई तो यह है कि अगर पंजाब सरकार एनजीटी का आदेश लागू कर भी दे तो काफी हद तक पराली जलाने की घटनाएं कम हो जाएंगी। पराली प्रबंधन के लिए सिर्फ उपकरण ही नहीं, ट्रैक्टर भी चाहिए। हर किसान के लिए यह संभव नहीं है कि वह लाखों रुपए खर्च कर ट्रैक्टर भी खरीद सके। ऐसी सूरत में पराली प्रबंधन के लिए खर्च तो सरकार को ही करना होगा, तभी पराली जलाने की घटनाएं बंद होंगी। लेकिन दिलचस्प बात है कि पंजाब सरकार ने किसानों को सीधी मदद करने के बजाय पराली प्रबंधन के विज्ञापन पर करोड़ों रुपए खर्च कर दिए हैं। विज्ञापन पर करोड़ों खर्च के बावजूद पंजाब जैसे राज्य में पराली जलाई जा रही है।

पंजाब सरकार का दावा है कि पराली जलाने की घटनाएं कम करने के लिए स्ट्रा मैनेजमेंट सिस्टम, हैप्पी सीडर, पैडी स्ट्रा चॉपर, हाइड्रोलिक रिवर्सेवल माउल्ड बोर्ड आदि मशीनों का उपयोग को बढ़ाया जा रहा है। इनके उपयोग से किसानों को पराली जलाने से मुक्ति मिल जाती है। पंजाब सरकार इन मशीनों की खरीद पर किसानों को छूट भी दे रही है। लेकिन अभी तक अच्छे नतीजे सामने नहीं आए हैं। पंजाब सरकार ने इस साल अट्ठाईस हजार मशीनों को बहुत ही सस्ते मूल्य पर देने का फैसला किया था। इसके लिए राज्य सरकार ने दो सौ अठहत्तर करोड़ रुपए का बजट भी रखा था। किसानों को इन मशीनों पर पचास फीसद का अनुदान भी दिया गया। फिर भी राज्य में पराली जलाने की घटनाओं में कमी नहीं आ रही।

पराली प्रबंधन की मशीनों को लेकर भी किसान संगठनों ने सरकार पर घपले के आरोप लगाए हैं। किसान संगठनों का कहना है कि जितनी कीमत पर अनुदान देकर मशीनें किसानों को उपलब्ध करवाई जा रही हैं, उससे सस्ती मशीनें खुले बाजार में उपलब्ध हैं। इस तरह अनुदान की रकम में खेल हो रहा है। मशीन बनाने वाली कंपनियों के साथ मिलकर अधिकारी घालमेल कर रहे हैं। किसानों को अनुदान के बाद पचहत्तर हजार रुपए में जो मशीन उपलब्ध कराई जा रही है, वह खुले बाजार में साठ हजार में मिल रही है।

अगर उत्तर भारत को हर साल अक्तूबर और नवंबर में भारी प्रदूषण से बचाना है तो उत्तर भारतीय राज्यों में कृषि विविधिकरण पर जोर देना होगा। किसानों को धान की खेती के लिए हतोत्साहित करना होगा। किसानों को तिलहन, दलहन, मक्का, रागी की खेती के लिए प्रोत्साहित करना होगा। इन फसलों को बढ़ावा देने से देश भर में फैल रहे गैर संक्रामक रोगों में भी कमी आएगी, जिसमें मधुमेह और रक्तचाप जैसी बीमारी शामिल हैं। पंजाब जैसे राज्य में चावल की खपत नहीं के बराबर है। पंजाब के धान से बना चावल दूसरे राज्यों में जाता है। बासमती का निर्यात पश्चिम एशिया के देशों में होता है। जबकि गैर बासमती चावल का निर्यात अफ्रीकी देशों में होता है। किसान धान की खेती तभी छोड़ेंगे जब उन्हें दूसरी फसलों की अच्छी कीमत मिले।

संघर्ष का परिसर

अरविंद दास

किसी भी व्यक्ति या संस्थान के जीवन में पचास साल का खास महत्त्व होता है। दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का यह पचासवां वर्ष है। होना तो यह चाहिए कि विश्वविद्यालय के लिए यह उत्सव का वर्ष होता, जहां उसकी उपलब्धियों और खामियों की समीक्षा होती। लेकिन छात्रावास की फीस में अप्रत्याशित बढ़ोतरी और जेएनयू की लोकतांत्रिक जीवन शैली पर प्रशासन के दबिश देने की मंशा के खिलाफ जेएनयू के विद्यार्थियों को सड़क पर उतरना पड़ा।

जेएनयू उच्च शिक्षा के लिए देश और विदेश में एक जाना-पहचाना नाम है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय की ओर से जारी नेशनल इंस्टीट्यूशनल रैंकिंग में जेएनयू उच्च पायदानों पर रहा है। हालांकि वर्ष 2016 से जेएनयू की चर्चा शिक्षा के एक उत्कृष्ट शिक्षा संस्थान से ज्यादा देशद्रोह और राष्ट्रवाद जैसे मुद्दों को लेकर विचारधारात्मक संघर्ष के परिसर के रूप में होती रही है। अब यह लोगों को समझ में आने लगा है कि इसके पीछे किस तरह की राजनीति और कारोबारी प्रचार और संचार तंत्र का हाथ रहा है।

शुरुआती दौर से ही जेएनयू की छवि एक प्रगतिशील विचारधारा और राजनीतिक रुझान वाले संस्थान की है, लेकिन किसी भी उत्कृष्ट विश्वविद्यालय की तरह यह एक लोकतांत्रिक परिसर है जहां बहस-मुबाहिसा और प्रतिरोध के स्वर हमेशा बुलंद रहे हैं। खासतौर पर आपातकाल के दौरान जेएनयू सत्ता के खिलाफ प्रतिरोध का एक केंद्र बन कर उभरा था। सरकार की ज्यादतियों के खिलाफ छात्र-छात्राओं ने एक बड़ा संघर्ष किया था। राजनीतिक सक्रियता जेएनयू के विद्यार्थियों को विरासत में मिली है। लेकिन हाल ही में इस परिसर में छात्रावास के शुल्क वृद्धि को लेकर उभरे विरोध के बाद टीवी पर समाचार चैनलों में पूर्वाग्रह दिखाई पड़ा। इसके अलावा, सोशल मीडिया में कई लोगों ने 'शट डाउन जेएनयू' जैसे हैशटैग के साथ 'जेएनयू बंद करो' का अभियान चलाया।

दुनिया मेरे आगे

मुझे याद है कि पिछले दशक में जब मैं जेएनयू का छात्र था तो समाजशास्त्र में राजस्थान के भील समुदाय से आने वाले एक छात्र ने एमए में दाखिला लिया था। हम एक ही हॉस्टल में रहते थे। बातचीत के दौरान उन्होंने कहा था कि 'मेरे मन में अपनी आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि का खयाल हर वक्त रहता है, पर सहपाठी, मित्रों और शिक्षकों ने किसी भी तरह की हीन भावना को मेरे मन में घर नहीं करने दिया।' बहरहाल, एक आंकड़े के मुताबिक 2017-18 के दौरान जेएनयू में पढ़ने वाले करीब चालीस फीसद विद्यार्थियों के परिवार की मासिक आय बारह हजार रुपए से कम आंकी गई थी। जेएनयू की नामांकन पद्धति में सामाजिक-आर्थिक रूप से पिछड़े छात्र-छात्राओं को नामांकन के लिए 'डेप्रिवेशन पाइंट्स' के साथ वरीयता दी जाती है।

जेएनयू में सबसिडी की वजह से पढ़ाई-लिखाई का खर्च, छात्रावास की फीस वगैरह काफी कम हैं और इस लिहाज से शुरुआती दौर से देश के कोने-कोने से प्रतिभावान विद्यार्थी पढ़ने और शोध करने आते रहे हैं। इनमें से कई विद्यार्थी अपने परिवार और रिश्तेदारों में पहली पीढ़ी के होते हैं, जिन्होंने उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय का रुख किया होता है। पिछले दिनों सन 1981-83 के दौरान जेएनयू के छात्र रहे और अर्थशास्त्र में नोबेल पुरस्कार विजेता, अभिजीत बनर्जी ने भी बातचीत में इस बात का जिक्र किया था कि उनके दौर में भी जेएनयू में देश के विभिन्न हिस्सों से विद्यार्थी मौजूद थे, जो इसकी खूबी थी। इस तरह जेएनयू अखिल भारतीय स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता रहा।

पूरी दुनिया में शिक्षा को 'पब्लिक गुड' मानने और शिक्षा के निजीकरण को लेकर राजनीतिक बहस चल रही है। अमेरिका और ब्रिटेन में विद्यार्थियों को कर्ज लेकर महंगी उच्च शिक्षा पूरी करनी होती है। नतीजतन, एक खास वर्ग तक ही उच्च शिक्षा की पहुंच है। इसके उलट जर्मनी और फ्रांस में उच्च शिक्षा को कई तरह का वित्तीय अनुदान यानी सबसिडी देकर सस्ता बनाया गया है। इस दशक में इंग्लैंड में उच्च शिक्षा में महंगी ट्यूशन फीस को लेकर कई बार विद्यार्थियों ने विरोध प्रदर्शन किया है।

मिश्रित अर्थव्यस्था के दौर में देश में उच्च शिक्षा को विभिन्न तरह के अनुदान देकर सुलभ बनाया गया था। उदारीकरण के बाद कई निजी विश्विद्यालय उभरे हैं, जिनका जोर गुणवत्ता पर कम और अपने कारोबार को बढ़ाने पर ज्यादा है। महंगी फीस होने के कारण एक खास वर्ग के बच्चे ही इन विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं। उच्च शिक्षा में निवेश को हम तात्कालिक नफे-नुकसान के आधार पर नहीं तौल सकते हैं।

राजनेताओं-शिक्षाविदों ने देश निर्माण में शिक्षा के महत्त्व को हमेशा महत्त्वपूर्ण माना है। उच्च शिक्षा कई तरह की जातीय-वर्गीय-लैंगिक बाधाओं को तोड़ता है और समाज के हाशिये पर रहने वाले कमजोर तबकों को आगे बढ़ने के अवसर देता है। पिछले पचास सालों में जेएनयू ने देश को बेहतरीन शिक्षक, अध्येता, राजनेता, नौकरशाह, समाजसेवी और पत्रकार दिए हैं। कहा जा सकता है कि भारत जैसे विकासशील देश में जेएनयू सामाजिक न्याय और समानता का एक सफल मॉडल है। जेएनयू की स्थापना के पचासवें वर्ष में उच्च शिक्षा को लोकहित में मानते हुए एक सार्थक विमर्श होना चाहिए, ताकि हम राष्ट्र निर्माण की सही दिशा में आगे बढ़ सके। यही जेएनयू की परंपरा रही है।

महंगी परीक्षा

लंबे इंतजार के बाद मध्यप्रदेश लोक सेवा आयोग ने राज्य सेवा एवं राज्य वन सेवा परीक्षा का विज्ञापन जारी किया। इससे इस परीक्षा की तैयारी करने वाले लाखों उम्मीदवारों ने राहत की सांस ली। लेकिन इस विज्ञापन में आवेदन शुल्क को तीन गुना अधिक बढ़ा कर पंद्रह सौ रुपए कर दिया गया है। सरकार के इस अव्यवहारिक कदम से प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी करने वाले उम्मीदवारों को न केवल घोर निराशा हुई है, बल्कि उन्हें चिंतित भी कर दिया है। वैसे यह कोई नई बात नही है। आजकल अधिकांश राज्य सरकारें ऐसा कर रही है, चाहे मध्य प्रदेश हो, बिहार हो, झारखंड हो, कोई राज्य इससे अछूता नही है। एक तरफ तो ये सरकारें तरह-तरह की सरकारी योजना और छात्रवृत्ति योजनाओं के माध्यम से छात्रों को आर्थिक सहायता मुहैया कराने की बात करती हैं, वहीं दूसरी तरफ प्रतियोगिता परीक्षा के आवेदन शुल्क के नाम पर मोटी फीस वसूली जा रही है। सरकार जानती है कि सभी छात्र साल में कई प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठते हैं और इतना ज्यादा आवेदन शुल्क इनके लिए गंभीर आर्थिक समस्याएं खड़ी कर देता है। सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि रोजगार के लिए जारी विज्ञापन का आवेदन शुल्क सिर्फ सांकेतिक हो, साथ ही किसी भी प्रतियोगिता परीक्षा का प्रथम प्रयास सभी उम्मीदवारों के लिए निशुल्क किया जाना चाहिए जिससे सभी को समान रूप से परीक्षा देने का अवसर मिल सके। किसी भी सरकार का मकसद प्रतियोगिता परीक्षा के आवेदन शुल्क से धन जमा करना कतई नहीं होना चाहिए। इस तरह का कदम आर्थिक रूप से कमजोर उम्मीदवारों को परीक्षा से वंचित रखने की साजिश है। जिस तरह से राज्य सरकारें आवेदन शुल्क के नाम पर छात्रों से मनमाने तरीके से फीस वसूल रही हैं, उसे देखते हुए केंद्र सरकार को चाहिए कि इस पर कोई ठोस कानून लाया जाया जो आवेदन शुल्क निर्धारित करने की प्रक्रिया को नियंत्रित करे। राज्य सरकारों को संघ लोक सेवा आयोग से इस मामले में सीख लेनी चाहिए कि कैसे न्यूनतम आवेदन शुल्क में बेहतर व्यवस्था के साथ तय समय सीमा में परीक्षा से लेकर परिणाम तक का प्रकाशन किया जा सकता है।

● *सत्य प्रकाश, चकसाहों,पटोरी (समस्तीपुर)*

सांसदों का फर्ज

संसदीय लोकतंत्र में संसद को सुचारू रूप से चलाने का जिम्मा सरकार और विपक्ष दोनों का होता है। लेकिन हर बार संसद के सत्र कमोबेश हंगामे की भेंट चढ़ जाते हैं। सत्र शुरू होने से पहले संसद को सुचारू रूप से चलाने के लिए जो सर्वदलीय बैठक आयोजित की जाती है, वह भी मात्र औपचारिक बन के रह जाती है। संसद का शीतकालीन सत्र शुरू हो चुका है और कयास लगाए जा रहे हैं कि इस बार भी सत्र हंगामेदार होगा। संसद सत्र का एक-एक दिन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए हर दल के हरेक सदस्य को इसका महत्त्व समझना चाहिए। सभी को एक दूसरे का सहयोग करना चाहिए। सांसदों का पहला दायित्व आम आदमी की समस्याओं को उठाना है। शोरगुल और हंगामे की वजह से अगर संसद की कार्यवाही में अगर बाधा आती है तो इससे ज्यादा नुकसान देश और आम लोगों को ही होता है।

● *नीतीश कुमार पाठक, आश्रम, दिल्ली*

रेलवे का निजीकरण

भारत की पहली निजी ट्रेन तेजस के बाद अब नीति आयोग ने कुछ ट्रेनों और रेलवे स्टेशनों को निजी हाथों में सौंपने का सुझाव दिया है, ताकि रेलवे का समग्र विकास हो सके। वैसे देखा जाए तो रेलवे बुनियादी ढांचे और सेवाओं के आधुनिकरण के साथ तालमेल रख पाने में असफल रहा है। रेलवे में निजीकरण से बेहतर बुनियादी ढांचा, सेवा गुणवत्ता में वृद्धि, दुर्घटनाओं में कमी जैसे सकारात्मक परिणाम देखने को मिल सकते हैं, लेकिन सीमित कवरेज अर्थात- राष्ट्रव्यापी कनेक्टिविटी कमजोर होना, किराए में भारी वृद्धि, विदेशी कंपनियों का रेलवे में एकाधिकार जैसे दुष्परिणाम भी देखने को मिलेंगे। इन सभी चुनौतियों के बावजूद सरकार से उम्मीद है कि एक संतुलित दृष्टिकोण अपनाया जाए, सभी पहलुओं को ध्यान में रख कर राष्ट्रहित के कदम उठाए जाएं, ताकि रेल अपने विकास के साथ-साथ राष्ट्र के विकास में योगदान दे सके।

● *कपिल एम. वडियार, पाली (राजस्थान)*

प्लास्टिक का जहर

मानव जीवन में प्लास्टिक जनित वस्तुओं का लगातार बढ़ता उपयोग चिंताजनक है। यह हर तरह से मानव और पर्यावरण को क्षति पहुंचाता है। लेकिन अधिकतर लोग तो इसके नुकसान के बारे में जानते तक नहीं हैं और इसलिए सोच भी नहीं पाते कि प्लास्टिक उपयोग करना कितना घातक है स्वास्थ्य के लिए। इसलिए लोग इसका बेधड़क उपयोग कर रहे हैं। पहले बरसात में प्लास्टिक के जूते चप्पल का इस्तेमाल करते थे, लेकिन अब तो बच्चों के खिलौने से लेकर खाने के प्लेट, तश्तरी, कटोरी, बिजली के तार हैंडल आदि सब प्लास्टिक से बन रहे हैं। प्लास्टिक का साम्राज्य सभी जगह व्याप्त हो चुका है। एक अनुमान के मुताबिक वर्ष 1950 से अब तक दुनिया में आठ अरब टन से अधिक प्लास्टिक का उत्पादन हो चुका है। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि धरती पर प्लास्टिक के कितने पहाड़ खड़े हो गए होंगे। इसलिए अगर धरती को बचाना है, मानव को स्वस्थ्य रहना है तो प्लास्टिक का उपयोग बंद कर दूसरे विकल्प तलाशने चाहिए।

● *रितेश कुमार उपाध्याय, संत कबीर नगर*

वशिष्ठ नारायण अमर रहें!

'वशिष्ठ नारायण अमर रहें' के नारों से आसमान गूंज रहा था और एक आम बिहारी की अर्थी कंधों पर थी। अफसोस कि जिस अर्थी के पीछे अमरत्व की कामना करते लोग चल रहे थे, वह शख्स ताउम्र गुमनामी के अंधरे में रहा। देश की सियासत ने हमें इस हद तक पंगु बना दिया कि प्रोफेसर वशिष्ठ नारायण सिंह की विशिष्टता को सहेजने में हम नाकाम रहे। शिकायत किस से करें जब अपने बिहार ने ही अपने अनमोल रत्न की मृतकाया को भिन-भिनाति मक्खियों के हवाले छोड़ दिया। अविस्मरणीय है वह भाई जिन्होंने बिना कहीं गिड़गिड़ाए आखिरी दम तक अपना फर्ज निभाया है। हस्ती का मिट जाना एक सच्चाई है, मगर डॉक्टर वशिष्ठ नारायण सिंह की बेकद्री से बिहार की छवि बेशक धूमिल हुई है।

● *एमके मिश्रा, मां आनंदमयीनागर, रातू*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

नई दिल्ली

www.readwhere.com